

ईशावास्योपनिषद्

सान्वय तात्पर्यार्थ



आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-३१



प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

डी.४९/९ मिश्र पोखरा

वाराणसी २२१०१०

फोन नं. ३५०६५४

द्वितीय संस्करण

भगवत्पादाब्द	-	१२०९
वैक्रमाब्द	-	२०५४
खीष्टाब्द	-	१९९७

मूल्य - २०.००

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

रथयात्रा-गुरूबाग रोड, कमच्छा

वाराणसी - २२१०१०

ॐ

ईशावास्योपनिषद्

—१—

पदच्छेदः

ईशा वास्यम् इदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

सान्वयार्थः

यत्	= जो	तेन	= उस
किम्	= कुछ	त्यक्तेन	= त्याग (के बल) से (ही)
च	= भी	भुंजीथाः	= (अपने आप का) पालन अर्थात् रक्षण करो।
जगत्याम्	= ब्रह्माण्ड में		
जगत्	= जड चेतन है,	मा	= मत
इदम्	= वह (प्रत्यक्षानुभूत)	गृधः	= इच्छाएँ करो (विषयों का लोभ मत करो।)
सर्वम्	= सारा	धनम्	= धन
ईशा	= महेश्वर से	कस्य स्विद्	= किसका है? (किसी का भी नहीं।)
वास्यम्	= ढक देना चाहिये।		

तात्पर्य

संसार में नाम-रूप व क्रिया-रूप में जो भी अनुभूत होता है वह महेश्वर से अभिन्न है। अज्ञान से अलग प्रतीत होते हुए भी ज्ञान

से उसे शिवरूप ही देखे। वही इसका एकमात्र शासक है। इस प्रकार की दृष्टि से संसार के सभी नामरूपादि का त्याग हो जाता है। यह त्याग ही हमारा रक्षण या पालन करता है, क्योंकि सर्वत्र शिवदृष्टि करने वाले को कभी भी राग, द्वेष, शोक, मोह आदि नहीं सता सकते। अतः सभी दुःखों से यह त्याग बचा लेता है। परन्तु इस त्याग को पुष्ट करने के लिये यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि पुत्र-स्त्री-संपत्ति-विद्या-पुण्य आदि धन किसी के नहीं हैं, वरन् केवल शिव के ही हैं; अतः उनका लोभ या तृष्णा कभी न करे।

— २ —

पदच्छेदः

कुर्वन् एव इह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि न अन्यथा इतः अस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

सान्वयार्थः

इह	= यहाँ (इस मानव लोक में)	जिजीविषेत्	= जीने की इच्छा करे।
कर्माणि	= (शास्त्र प्रतिपादित कर्मों को)	एवम्	= इस प्रकार
कुर्वन्	= करते हुए	त्वयि	= तुझ
एव	= ही	नरे	= मनुष्य में (अपने को मनुष्य मानने वाले में)
शतम्	= सौ (पूर्णायु)	कर्म	= कर्म (दोष व फल)
समाः	= वर्षों तक	न	= नहीं
		लिप्यते	= लिपटेंगे (लगेंगे)।

इतः	= इससे	न	= नहीं
अन्यथा	= भिन्न (दूसरा कोई अलग उपाय)	अस्ति	= है।

तात्पर्य

प्रथम मंत्र से उत्तम अधिकारी को निवृत्ति मार्ग का उपदेश किया। इस मंत्र में प्रवृत्ति के अधिकारी को उपाय बताया। इन दो से भिन्न कोई तीसरा रास्ता वेदों में नहीं है। कर्म करते हुए ही जीवे। उनमें फलों की आसक्ति न रखे। न प्रमाद से कर्मों का त्याग ही करे। न सौ वर्ष या पूर्ण आयु से पहले घबराहट या दुःख से मरना ही चाहे। इस प्रकार शास्त्रोक्त नित्य व नैमित्तिक आदि स्वधर्म का पालन करते हुए मानव भी सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करते हुए क्रम मुक्ति के अधिकारी बन जाते है; एवं उन्हें कर्मों के दोषों में फँसना नहीं पड़ता।

— ३ —

पदच्छेदः

असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः।
तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनः जनाः।।

सान्वयार्थः

ते	= वे (जो)	असुर्याः	= असुर (प्राणों में रमण करने वाले)
अन्धेन	= अंधकार से (अज्ञान से)	नाम	= नाम (से कहे जाते हैं।)
तमसा	= (और) तमोगुण से	तान्	= उनको
आवृताः	= ढके हुये	ये	= जो
लोकाः	= लोक (कर्मफल भोग के स्थान)	के	= कोई

च = भी	जनाः = प्राणी (हैं)
आत्महनः = आत्महत्यारे (विद्यमान शिव को न मानने या जानने वाले)	ते = वे
	प्रेत्य = मरकर
	अभिगच्छन्ति = जाते हैं।

तात्पर्य

जो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों शास्त्रीय मार्गों का त्याग कर केवल अपने प्राणों को प्रसन्न करने में लगे रहते हैं वे असुर कहे जाते हैं। परमात्मा की तरफ दृष्टि न रखना ही परमात्मा की हत्या है। अतः असुर ही आत्महत्यारे हैं। वे मरकर पशु पक्षी कीट पतंगादि एवं नारकीय योनियों को प्राप्त कर अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हैं और जन्ममरण के चक्र में पड़े रहते हैं। इस प्रकार सभी प्राणियों की गति श्रुति ने बता दी। आत्मज्ञानी तुरन्त जीवन्मुक्ति पाते हैं। कर्मी क्रममुक्ति पाते हैं। अज्ञानान्धकार में पड़े भोगी जन्ममरण के चक्र में घूमकर कर्मफलों को भोगते रहते हैं।

— ४ —

पदच्छेदः

अनेजद् एकं मनसः जवीयः न एनद् देवाः आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत्।
तत् धावतः अन्यान् अत्येति तिष्ठत् तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति।।

सान्वयार्थः

एकम् = (सर्वभूतों में स्थित) एक है।	मनसः = मन से (भी)
	जवीयः = तेज (है)।
अनेजत् = (अपने स्वरूप से) हिले बिना ही	एनत् = इस (महेश्वर) को
	देवाः = देवता (इन्द्रियाँ) भी

न = नहीं	अत्येति = (पीछे छोड़) आगे जाता है।
आप्नुवन् = पा सकते हैं।	
पूर्वम् = पहले ही	तस्मिन् = उसके होने से (सदाशिव के कारण)
अर्षत् = व्यापक है।	
तत् = वह (महेश्वर)	मातरिश्वा = (संसार का नियामक) सूत्रात्मा
तिष्ठत् = खड़े हुए ही	
धावतः = दौड़ते हुए	अपः = कर्म (फलों) का
अन्यान् = दूसरों को	दधाति = वितरण करता है।

तात्पर्य

जिस ब्रह्म के ज्ञान से प्रथम मंत्र में मोक्ष बताया; जिस महेश्वर की आज्ञा के पालन से कर्म करते हुए भी मुक्ति की संभावना द्वितीय मंत्र से बताई; जिस शिवतत्त्व की अवहेलना से आसुरी योनि की प्राप्ति तृतीय मंत्र में प्रतिपादित की गई; उसी परमात्मतत्त्व का अब वर्णन करते हैं। वह सभी प्राणियों में रहते हुए भी अद्वितीय ही है। मन के संकल्पविकल्पों से भी वह अतिदूर है अतः उसे मन से भी तेज कहा जाता है। फिर भी वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। देवगण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, यम आदि भी उसका पार नहीं पा सकते। अथवा केवल मन द्वारा न जानने लायक बाहिर के रूप, रस, गन्ध आदि पदार्थों को जानने की सामर्थ्य वाली इन्द्रियाँ भी उसे नहीं जान सकतीं। वह आदि काल से ही सर्वत्र गया हुआ विद्यमान है अतः काल-देश आदि सभी की अपेक्षा व्यापक है। इसी व्यापकता के कारण जहाँ कहीं जो कोई भी जावे वहाँ वह पहले ही पहुँचा हुआ होने के कारण सबसे आगे शीघ्र गति से गया हुआ मालूम होने पर भी वस्तुतः अचल है। जिस प्रकार आकाश (space) बिना चले ही जहाँ जावें वहाँ पहुँचा हुआ होता है वैसा ही

यहाँ भी समझना योग्य है। मातरिश्वा अर्थात् सूत्रात्मा या प्राण। सभी कर्मफल प्राण द्वारा ही संभव है। प्राण जाने के बाद कर्मफल संभव नहीं। परन्तु सदाशिव के रहने पर ही प्राण भी कर्मफल भोग सकता है। गहरी नींद में प्राण होने पर भी शिवतत्त्व का चेतनभाव से स्पर्श न होने के कारण भोग संभव नहीं यह सर्वानुभवसिद्ध है। अतः आत्मा के कारण ही कर्मफलवितरण होता है। अथवा सूत्रात्मा सदाशिव के भय से ही कर्मों का ठीक ठीक प्रकार से ठीक ठीक समय पर वितरण करता है। अथवा वायु शिव की क्रियाशक्ति है। जो भी अप् या द्रवरूप श्रद्धा क्रिया में प्रकट होती है वह शिव की शक्ति का ही प्राकट्य है। शिव की क्रिया-शक्ति के बल से ही ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं।

— ५ —

पदच्छेदः

तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके।
तत् अन्तः अस्य सर्वस्य, तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः॥

सान्वयार्थः

तत्	= वह (महादेव) [प्राणिरूप से]	एजति	= चलता है।
एजति	= चलता है। (एवं)	तत्	= वही (सूर्य, इन्द्र, विष्णु आदि रूप से)
तत्	= वही (पृथ्वी, वृक्ष आदि रूप से)	दूरे	= दूर है। (अथवा अज्ञान के कारण अपने से दूर है।)
न	= नहीं		

तत्	= वह (अन्तर्यामी रूप से या अहंरूप से)	अन्तः	= अन्दर (सत्ता रूप से) है।
उ	= ही	तत्	= वह
अन्तिके	= पास से भी पास है।	उ	= ही
तत्	= वह	अस्य	= इस
अस्य	= इस	सर्वस्य	= सभी के
सर्वस्य	= सभी (नाम रूप क्रिया) के	बाह्यतः	= बाहिर (अस्पृष्ट) भी है।

तात्पर्य

पूर्व मंत्र में परमेश्वर या कारणरूप से सदाशिव का वर्णन करके इस मंत्र में कार्य रूप से उसी का वर्णन है। जीव एवं जगत् रूप से भी वही है, एवं जीव-जगत् के ईश्वररूप से भी वही है यह बताने से दोनों की एकता स्फुट रूप से प्रतिपादित है। चलने वाले और अचल रूप से वही है। नाम-रूप के विकारों में भी वही है परन्तु नाम-रूप के विकारों से रहित होने से उन सभी विकारों से बाहिर भी वह है। शासक रूप से उसकी अज्ञानावस्था में दूर की कल्पना होने पर भी हृदय में चेतना रूप से उसका स्फुरण होने से वह समीपतम है।

— ६ —

पदच्छेदः

यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति।
सर्वभूतेषु च आत्मानं ततः न विजुगुप्सते॥

सान्वयार्थः

यः	= जो	सर्वभूतेषु	= सभी पदार्थों (जड़, चेतन) में
तु	= तो (आत्मज्ञानी)	आत्मानम्	= आत्मा (अपने आप) को
सर्वाणि	= सभी (ब्रह्मा से घास तक)	अनुपश्यति	= देखता है (वह)
भूतानि	= पदार्थों को	ततः	= इसी कारण से
आत्मनि	= आत्मा में (अपने आप में)	एव	= ही
		न	= नहीं
च	= और	विजुगुप्सते	= घृणा करता है।

तात्पर्य

प्रथममंत्रोक्त आत्मज्ञान का फल षष्ठ व सप्तम मंत्र में बताते हुए विधि निषेध से अतीत जीवन्मुक्त का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। समग्र विश्व को आत्मा से भिन्न न समझना एवं समस्त प्राणियों में अपने को ही आत्मरूप से समझना आवश्यक है। 'सब मुझ में हैं एवं सब में मैं हूँ' यही जीवन्मुक्त की अनुभूति है। अपने से भिन्न मानने पर ही घृणा संभव है। अत्यन्त शुद्ध निर्मल आत्मस्वरूप को निरन्तर अनुभव करने से कहीं भी घृणा संभव नहीं। इसीलिये वह निन्दाशून्य हो जाता है। यह दर्शन ज्ञाननेत्र से ही संभव है। प्रथम मंत्र में 'ईश' = महेश्वर को सर्वरूप बताया एवं यहाँ आत्मा को। अतः महेश्वर एवं आत्मा का अभेद इष्ट है।

— ७ —

पदच्छेदः

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् विजानतः।
तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः।।

सान्वयार्थः

यस्मिन्	= जिस काल (अवस्था) में	एकत्वम्	= (शिव, जीव और जगत् की) एकता को
विजानतः	= आत्मसाक्षात्कारी के लिये	अनुपश्यतः	= देखने वाले को
सर्वाणि	= सभी	कः	= कहाँ, कैसा और कौन सा
भूतानि	= (जड़ चेतन) पदार्थ	मोहः	= मोह (व)
आत्मा	= आत्मा	कः	= कहाँ, कैसा और कौन सा
एव	= ही		
अभूत्	= हो गये हों,	शोकः	= शोक (हो सकता है)?
तत्र	= उस काल में		

तात्पर्य

शिव आनन्दरूप है अतः जब सभी पदार्थ शिवस्वरूप हो जाते हैं तब सभी देश, काल और वस्तु आनन्दरूप हो जावें यह स्वाभाविक है। सभी कल्पित, अकल्पित नाम, रूप और क्रियाएँ अपने रूप को छोड़ कर आनन्दमय हो जाते हैं। शिव निरतिशय आनन्दस्वरूप होने से दुःख से सर्वथा अछूते हैं। उनको न जानने से ही 'पुत्र मर गया, धन नष्ट हो गया' आदि शोक संभव है। इसी शिव को आत्मस्वरूप से अभिन्न न जानकर पुत्र, सम्पत्ति, स्त्री आदि को सुखसाधन समझ कर उनकी कामना करते हैं। उनके लिये देवपूजा करते हैं। न मिलने पर विक्षिप्त होते हैं। विक्षेप ही दुःखवृक्ष का बीज है। इसका मूल भी आत्मा को शिव से भिन्न समझना रूपी अज्ञान या मोह है। यही आवरण है। सदाशिव तत्त्व में स्थित होने पर काम कर्म का बीज अविद्या नष्ट होने से संसार का कारण सहित नाश होकर परमानन्द मिलता है।

— ८ —

पदच्छेदः

सः परि अगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम्।
कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतः अर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

सान्वयार्थः

सः = वह (प्रसिद्ध महेश्वर)
परि = सर्वत्र
अगात् = गया हुआ (व्यापक) है।
शुक्रम् = सफेद ज्योति स्वरूप,
अकायम् = सूक्ष्मशरीर से रहित,
अव्रणम् = अक्षत (फोड़े, चोटों से रहित),
अस्नाविरम् = स्नायुओं से रहित,
शुद्धम् = दोनों या पापों से रहित,
अपापविद्धम्= धर्म, अधर्म, वासना से सर्वदा अस्पृष्ट,
कविः = क्रान्तदर्शी
मनीषी = (सबके) मन का शासक,
परिभूः = सबसे ऊपर (सब को दबाने वाला)
स्वयंभूः = स्वतः, दूसरे के बिना होने वाला है (स्वतंत्र)।
याथातथ्यतः= जैसा जैसा ठीक है वैसा वैसा
अर्थान् = पदार्थ को (नियम एवं कर्म तथा फल को)
शाश्वतीभ्यः= अनन्त (नित्य)
समाभ्यः = वर्षों के लिये (अधीश्वरों को)
व्यदधात् = विहित किया या बाँटा। (उसी भगवान् ने)

तात्पर्य

सदाशिव के कारणत्व व कार्यत्व का वर्णन करके आत्मज्ञान का फल बताया। अब उपासना व कर्म रूप प्रवृत्ति मार्ग का सह समुच्चय प्रतिपादित करना है। ज्ञान- प्रकरण की परिसमाप्ति से प्रथम मंत्र का प्रकरण समाप्त होकर अब द्वितीय मंत्र का विस्तार श्रुति करती है। उपास्य तत्त्व रूपी महेश्वर का इसमें वर्णन है। वह सदाशिव ही महेश्वर-भाव से कर्म व उसके फलों का सम्बन्ध सृष्टि के आदि में बाँट देता है। कर्तव्यों का निरूपण वेदों में है। वेद का उपदेश ब्रह्मा आदि प्रजापतियों को जो 'सम' नाम वाले हैं प्रथम मिलता है एवं वे नियम अन्त तक स्थिर रहते हैं। महेश्वर स्थूल, सूक्ष्म व कारण तीनों शरीरों से रहित है 'यह अव्रणम्, अस्नाविर, अकायम् एवं शुद्धम् से क्रमशः बताया। सभी कार्य करते हुये भी उसका किसी पाप से संस्पर्श संभव नहीं। बिना शरीर के भी सब कुछ उत्पन्न करना ही उसकी अचिन्त्य शक्ति है। जो इस प्रकार ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है वह अनन्तकाल तक पदार्थों का यथा तथा भोग करके भी शुद्ध व पापमुक्त रहता है यह निर्देश भी यहाँ है। 'परि अगात्' अच्छी तरह से जाना। जिसने 'महेश्वरोहं' ऐसा अनुभव किया वही कवि आदि है। माया से विविध रूपों वाला बनते हुए भी (परिभूः) स्वयंभू ही बना रहता है। अविद्यादशा में ही इस समय ऐसा ऐसा, इस साधन से यह साध्य, एवं चेतन अचेतन की विविध रूप से कल्पना का विधान वह महेश्वर ही करता है। यही उपास्य एवं कर्मफलदाता है। इस प्रकार इस मंत्र से महेश्वर का स्वरूप एवं अन्तिम फल दोनों बताये गये हैं।

— ९ —

पदच्छेदः

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते।
ततः भूयः इव ते तमः ये उ विद्यायां रताः।।

सान्वयार्थः

ये	= जो
अविद्याम्	= कर्म (में ही)
उपासते	= तत्पर रहते हैं (वे)
अन्धम्	= घोर
तमः	= तमोलोक में
प्रविशन्ति	= प्रवेश करते हैं।
उ	= एवं (दूसरी तरफ)
ये	= जो
विद्यायाम्	= उपासना में ही (देवज्ञान में)
रताः	= तत्परता से लगते हैं
ते	= वे
ततः	= उन से भी (कर्मियों से)
भूयः	= ज्यादा
तमः	= तमोलोक में
इव	= ही (जाते हैं)।

तात्पर्य

यद्यपि वेदों ने केवल कर्म से पितृलोक एवं केवल उपासना से देवलोक की प्राप्ति बताई है, तथापि वहाँ से लौटना पड़ता है एवं वहाँ का आनन्द भी सातिशय है; तथा वहाँ भी देहादि में अभिमान रहता है अतः यहाँ उसकी तमोलोक संज्ञा है। कर्म व उपासना को साथ करने से ही शिव की प्रसन्नता से क्रममुक्ति का द्वार खुलता है, जहाँ निरतिशय आनन्द है एवं फिर नीचे नहीं आना पड़ता। अतः उसकी प्रशंसा है।

वस्तुतः जो अधिकारी न आत्मज्ञानी है एवं न पुष्कल वैराग्य वाला है फिर भी संसार में अत्यधिक प्रीति से रहित एवं परमात्मप्राप्ति की अभिलाषा वाला है वही यहाँ इष्ट है। संसार में आसक्त तो कर्म का ही अधिकारी है। 'मैं और मेरा' का अभिमान ही 'अन्धं तमः' में प्रवेश है। 'मैं ब्रह्म हूँ' कहकर बिना आत्मसाक्षात्कार के कर्मत्याग से तो और भी नीचे गिरता है। देवता की भक्ति भी कर्म के बिना हानिप्रद हो जाती है। कर्म ही अशुद्ध अन्तःकरण को शुद्ध करने का उपाय है और कर्मत्याग से प्रत्यवायरूपी दोष ऊपर से लगता है। अतः आत्मज्ञान के पूर्व कभी भी कर्म न छोड़े।

— १० —

पदच्छेदः

अन्यत् एव आहुः विद्यया अन्यत् आहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तत् विचचक्षिरे।।

सान्वयार्थः

विद्यया	= उपासना से
अन्यत्	= दूसरा (फल)
एव	= ही
आहुः	= कहा है (वेदों ने),
अविद्यया	= कर्म से
अन्यत्	= दूसरा (फल)
आहुः	= कहा है (वेदों ने)।
इति	= ऐसा
ये	= जिन्होंने
नः	= हमें
तत्	= उस (तत्त्व) को
विचचक्षिरे	= बताया था,
धीराणाम्	= (उन) प्रशस्त बुद्धि वालों का
शुश्रुम	= (वचन) हमने सुना था।

तात्पर्य

यहाँ श्रुति स्वयं गुरु को उपदेश की विधि बताती है। हमेशा अपने गुरुओं के प्रमाण से कहना चाहिए, स्वतः अभिमानपूर्वक नहीं। वेद के सर्व रहस्यों का तत्त्व जानना ही धीरों का काम है।

— ११ —

पदच्छेदः

विद्यां च अविद्यां च यः तत् वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते।।

सान्वयार्थः

यः	= जो (साधक)	अविद्यया	= (वही साधक) कर्म से
तत्	= उन	मृत्युम्	= प्रमाद या अशास्त्रीय कर्म रूपी मृत्यु को
उभयम्	= दोनों	तीर्त्वा	= पार करके
विद्याम्	= उपासना	विद्यया	= उपासना से
च	= और	अमृतम्	= महादेव भाव रूपी मोक्ष को
अविद्याम्	= कर्म को	अश्नुते	= पा लेता है
च	= समुच्चय से		
सह	= साथ-साथ		
वेद	= (अनुष्ठान) साधता है,		

तात्पर्य

सभी कर्म व उपासना जिस फल को उत्पन्न करते हैं वह अन्त में नष्ट होता है, अतः उस फल को मृत्यु कहा गया है। इसीलिये स्वाभाविक कर्म व ज्ञान भी मृत्यु कहे गये हैं। इस नश्वर फल की प्राप्त न करना ही मृत्यु को पार करना है। अतः कर्मयोग का यही फल है। परमात्मा से एक होना ही अमर बनना या मोक्ष पाना है। वस्तुतः कर्म में शिवदृष्टि ही उपासना का सहसमुच्चय है। सारे कर्म प्रतीक हैं। उन प्रतीकताओं को जानकर कर्म करना ही कर्म और उपासनाओं का साथ साथ करना है। जीवन के सभी कर्मों को इस प्रकार करना ही जीवनयज्ञ है। विद्या का अर्थ यहाँ श्रवण से उत्पन्न कच्चा ज्ञान भी लिया जा सकता है। अतः जो कर्म करेगा उसके ज्ञान का प्रतिबन्धक रूपी मृत्यु हटकर उसे मोक्ष यहीं प्राप्त हो सकेगा। हर हालत में वैदिक सिद्धान्त में दृढ़ अनुभूति के पूर्व कर्म व उपासना करते रहना आवश्यक है।

— १२ —

पदच्छेदः

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असंभूतिम् उपासते।
ततः भूयः इव ते तमः ये उ संभूत्यां रताः।।

सान्वयार्थः

ये	= जो	उपासते	= उपासना करते हैं (वे)
असंभूतिम्	= कारण ब्रह्म, निराकार, समष्टि की	अन्धम्	= घोर
		तमः	= तमोलोक में

प्रविशन्ति	= प्रवेश करते हैं	ते	= वे
उ	= एवं (दूसरी तरफ)	ततः	= उनसे भी
ये	= जो	भूयः	= अधिक
संभूत्याम्	= कार्य ब्रह्म, साकार, व्यष्टि में	तमः	= तमोलोक में
रताः	= रति करते हैं	इव	= ही (जाते हैं)।

तात्पर्य

कर्म व उपासना का साथ साथ विधान करके अब कारण व कार्य रूप से, या निराकार व साकार रूप से, या समष्टि या व्यष्टि रूप से साथ-साथ उपासना को बताना है। इनमें से केवल एक को मानना वेद को इष्ट नहीं। इसीलिये शिवलिंग में शिव व शक्ति की साथ ही साथ उपासना होती है। कुछ लोग सृष्टि से भिन्न परमेश्वर को केवल कारण मानते हैं, एवं अन्य लोग सृष्टि को ही परमेश्वर मानते हैं; परन्तु वेद कहता है कि सृष्टि भी परमेश्वर है एवं सृष्टि का नियामक एवं निर्माता परमेश्वर सृष्टि से अतीत भी है। इसी प्रकार वह निराकार भी है और साकार भी है। केवल समष्टि या समाज को ही मानना वैदिक धर्म नहीं, और केवल व्यक्तिगत उन्नति में लगे रहना भी इष्ट नहीं।

संभूति का अर्थ जन्म भी होता है। उत्पन्न होने से साकार ब्रह्म आदि भी संभूति कहे जा सकते हैं। वेद कहता है कि जिसका जन्म नहीं होता वह असंभूति आत्मतत्त्व है; पर 'हमारा जन्म नहीं होगा' ऐसा मानकर परलोक को न मानना भी असंभूति की उपासना ही है। वह भी नरकप्राप्ति का ही साधन है। एवं हमें जन्म-मरण के चक्र में हमेशा

रहना ही पड़ेगा ऐसा मानने वाले वैष्णव, ईसाई, मुसलमान आदि भी नरकगामी ही होते हैं। यहाँ नरक का अर्थ दुःखप्राप्ति है। वस्तुतः अपने को शिव से भिन्न समझना ही नरक है। अतः वेदाज्ञा है कि अपने को जीव समझते हो तो परलोक का साधन करो, एवं स्वरूप से अपने को शिव से अभिन्न समझ कर जन्म-मरण के चक्र से छूट कर मुक्त होने का भी उपाय करो। असंभूति से बौद्ध शून्यवाद एवं संभूति से क्षणिक विज्ञानात्मा की भी यहाँ निन्दा है। असंभूति से जड प्रकृति भी ली जाती है। अतः सांख्य एवं योगी और आधुनिक वैज्ञानिक भी क्रमशः असंभूति और संभूति के उपासक माने गये हैं।

संक्षेप में यहाँ भगवती श्रुति किसी भी एक पक्ष की स्वीकार न करके सब का संग्रह करने वाली दृष्टि एवं व्यवहार का उपदेश करके वैदिक धर्म को सभी मत व पन्थों से उन्नत शिखर पर ले जाने का उपदेश कर रही है।

—१३—

पदच्छेदः

अन्यत् एव आहुः संभवात् अन्यत् आहुः असंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तत् विचचक्षिरे।।

सान्वयार्थः

संभवात्	= कार्य ब्रह्म (उपासना) से	आहुः	= कहा है।
अन्यत्	= दूसरा (फल)	असंभवात्	= कारण ब्रह्म (उपासना) से
एव	= ही		

अन्यत्	= दूसरा (फल)	तत्	= उस (तत्व) का
आहुः	= कहा है।	विचचक्षिरे	= व्याख्यान किया था,
इति	= ऐसा	धीराणाम्	= (उन) धीरों से
ये	= जिन्होंने	शुश्रुम	= (हमने) सुना था।
नः	= हमें		

तात्पर्य

कारण ब्रह्म या माया अथवा अव्याकृत, प्रकृति की उपासना का फल प्रकृतिलय माना जाता है। ऐसा उपासक कल्पान्त तक दुःखहीन अवस्था में रहता है। ईसाई आदियों की मुक्ति दिवस (day of deliverence) की कल्पना का आधार यही वैदिक सिद्धान्त है। इसी प्रकार निराकार में ध्यान लगाना असंभव होने से केवल निराकार उपासक को अधिक कष्ट रूपी फल ही प्राप्त होता है। केवल समष्टि दृष्टि वाले को अशान्ति ही मिलती है। सृष्टि को ही परमात्मा मानने से नैतिक, अधिदैव एवं आध्यात्मिक उन्नति से गिर जाता है। इसका फल इह लोक में उन्नति ही है। केवल कार्य ब्रह्म या ब्रह्मा, विष्णु आदि की साकार उपासना या योग व पूजा आदि का फल अणिमादि ऐश्वर्य या इष्ट के लोक की प्राप्ति एवं विशिष्ट सिद्धियों का आना ही है। साकार उपासना सरल है पर अत्यन्त स्वल्प फल ही देती है। साकार ध्यान में सिद्धि प्राप्त कर निराकार में जाना ही समुच्चय है। केवल व्यष्टिदृष्टि से समाजच्युति ही फलती है। परमेश्वर को केवल सृष्टि से अतीत मानकर परमेश्वर की सृष्टि से असहयोग करने का फल हिन्दू धर्म की वर्तमान दुर्दशा से अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? बौद्ध काल से मध्य सन्त परम्परा तक यही हाल रहा। सामने पड़े भूखे नर रूप धारी शिव को छोड़ कर मन्दिरों में ५६ भोग लगाते रहना वैदिक धर्म नहीं।

—१४—

पदच्छेदः

संभूतिं च विनाशं च यः तत् वेद उभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्या अमृतम् अश्नुते।।

सान्वयार्थः

यः	= जो (साधक)	वेद	= साधता (उपासना करता) है,
तत्	= उन	विनाशेन	= (वही साधक) संभूति से (कार्य, व्यष्टि, साकार)
संभूतिम्	= असंभूति (समष्टि, निराकार)	मृत्युम्	= अनैश्वर्य आदि मृत्यु को
च	= और	तीर्त्वा	= पार करके
विनाशम्	= अविनाश को (व्यष्टि साकार)	संभूत्या	= असंभूति से (कारण, समष्टि)
च	= समुच्चय से	अमृतम्	= मोक्ष को
उभयम्	= दोनों को	अश्नुते	= प्राप्त करता है।
सह	= साथ साथ		

तात्पर्य

वेदों का आदेश है कि कर्म व उपासना और समष्टि व व्यष्टि या एक शब्द में कहें तो शिव-शक्ति दोनों में अभिन्न दृष्टि रखनी चाहिए। इस मंत्र में संभूति और विनाश के अर्थविपर्यय द्वारा बताया गया है कि जो शिव है वही शक्ति है और जो शक्ति है वही शिव है। सर्वत्र अभेददर्शन ही कर्तव्य है।

—१५—

पदच्छेदः

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखम्।
तद् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

सान्वयार्थः

हिरण्मयेन	= ज्योतिर्मय (या नाम रूप)
पात्रेण	= ढक्कन से
सत्यस्य	= सत्य महेश्वर का
मुखम्	= मुख या द्वार
अपिहितम्	= ढका हुआ है।
पूषन्	= हे पूषा ! (पोषणकर्ता महेश्वर)
त्वम्	= तुम
तत्	= उसको
सत्यधर्माय	= सत्य व धर्म का पालन करने वाले को
दृष्टये	= (शिव) दर्शन के लिये
अपावृणु	= उघाड़ दो।

तात्पर्य

कर्म व उपासना के अधिकारी को नित्य करने योग्य प्रार्थना का अब उपदेश करते हैं। कर्म व उपासना स्वतः मोक्ष नहीं देते, वरन् उनसे प्रसन्न हुए श्री दक्षिणामूर्ति ही मोक्ष देते हैं। श्री शंकर की अष्टमूर्ति में सूर्य या पूषा का विशेष स्थान है। सूर्य को ईशान मूर्ति माना गया है; 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' आदि श्रुतियों में ईशानमूर्ति विद्या एवं विशेषतः ब्रह्मविद्या सम्बन्धिनी मूर्ति है। जिस प्रकार किरणसमूह से पूर्ण होने से सूर्य पूषा हैं वैसे ही विद्या कलाओं से पूर्ण होने के कारण सदाशिव भी

पूषा हैं। 'शंकरः सविताननः' आदि पुराण यही बताते हैं। अतः यहाँ पूषन् से यह ध्वनित किया जा रहा है कि ब्रह्मविद्या का पोषण करें।

हिरण्मय अर्थात् सोने का विकार। पूषा का या सूर्य का रंग हिरण्मय है। सूर्य या ईशानमूर्ति के बाह्य रंग या ऐश्वर्य से उनका वास्तविक तत्त्व छिपा रहता है। अथवा हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा की सृष्टि से शिवतत्त्व छिपा है। जो हितकारी व रमणीय प्रतीत हो ऐसा नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् भी हिरण्मय है, जिसने आत्मतत्त्व को छिपा रखा है। मन भी हिरण्मय है जो हमारे अनन्तानन्द को छिपा देता है।

महेश्वर ही कृपा करके इसको दूर कर देते हैं। पर करते उसी के लिये हैं जो सत्यसनातन वैदिक धर्म का पालन करके स्वयं सत्यधर्म बन गया है। सत्य रूपी शिव की उपासना से ही सत्यधर्म वाला कहा जाता है।

अथवा सत्यधर्म अर्थात् अवितथभाव वाले सदाशिव के दर्शनार्थ यह प्रार्थना है। सदाशिव ब्रह्मरन्ध्र में हैं एवं कुण्डलिनी ग्रन्थिभेद से ही वहाँ पहुँच कर संगमानन्द लाभ करेगी। उसी से पोषण संभव है।

—१६—

पदच्छेदः

पूषन् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजः यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।
यः असौ असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि।।

सान्वयार्थः

पूषन्	= हे पोषणकर्ता महेश्वर!	कल्याणतमम्	= शिवतम अतिसुन्दर
एकर्षे	= अकेले चलने वाले! (मुख्य एक ज्ञान वाले!)	रूपम्	= रूप है
यम	= सर्वनियामक !	तत्	= उसे
सूर्य	= रश्मि, प्राण, रसों के स्वीकारक ! (अच्छी गति वाले !)	ते	= तुम्हारी (कृपा से)
प्राजापत्य	= प्रजापति की सन्तति ! (प्रजापतिप्रिय !)	पश्यामि	= देखूँ (या साक्षात् करता हूँ)।
रश्मीन्	= किरणों को (विश्व को)	यः	= जो (प्रसिद्ध)
व्यूह	= अपने में लीन करो।	असौ	= सूर्यमण्डलस्थ परोक्ष (शिव है)
तेजः	= जलाने वाले ताप को	असौ	= (एवं) शास्त्रदृष्टि से प्रत्यक्ष
समूह	= नष्ट करो।	पुरुषः	= आत्मा (देहस्थ शिव है)
यत्	= जो (प्रसिद्ध)	सः	= वही
ते	= तुम्हारा	अहम्	= मैं
		अस्मि	= हूँ

तात्पर्य

कई सम्बोधनों से यहाँ परमात्मा के गुणों की स्मृति है। सबसे आगे चलने के कारण ही परमेश्वर मुख्य ज्ञानी है अतः वही एक ऋषि है। सभी ऋषि उसके आवेश से ही ज्ञानी माने जाते हैं। शिव की रश्मियाँ ही सारा जगत् है। वही हमारा प्राण है एवं जीवन का रस है। वह सर्वदा अच्छी गति से निरन्तर चलता ही रहता है। इसी लिये सूर्य है। वही शक्तिरूपी रश्मियों को बटोर कर प्रलय कर सकता है। अतः हमारे

अन्तःकरण के सामने से उन्हें हटा कर हमें आत्मज्ञान की सुलभता भी वही करा सकता है। संसार की आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक दावाग्नि को भी हटाने में वही समर्थ है। आदित्यस्थ सूर्य व नेत्रस्थ सूर्य की ज्योतिरूप से एकता; अथवा शिव व जीव की चेतनरूप से एकता यहाँ प्रतिपादित करके स्पष्ट कर दिया कि वैदिक सदाशिव से नौकर की तरह नहीं, वरन् एकत्वज्ञान के बल से ही कृपायाचना करता है। यहीं प्रसिद्ध 'सोहम्' मंत्र का कथन है। दृश्य व द्रष्टा का सर्वथा अभेद है।

सूरि अर्थात् विद्यावानों से जाना जाता है अतः सूर्य है। प्रजापति अर्थात् हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा को वेदोपदेश करता है अतः उसे प्रिय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उसके ईशान रूप की ही यह प्रार्थना है।

— १७ —

पदच्छेदः

वायुः अनिलम् अमृतम् अथ इदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।

सान्वयार्थः

वायुः	= प्राण (सूक्ष्म देह)	भस्मान्तम्	= भस्म में समाप्त हो। (अग्निदाह का संस्कार हो)
अमृतम्	= नित्य (समष्टि सूत्रात्मा)	ॐ	= परमेश्वर का साक्षात् नाम लेता हूँ।
अनिलम्	= वायु को (प्राप्त हो)।	क्रतो	= संकल्परूप या ज्ञान रूप (शिव) !
अथ	= उसके बाद		
इदम्	= यह (स्थूल)		
शरीरम्	= देह		

स्मर = (भक्त का) स्मरण कर।	स्मर = स्मरण कर।
कृतम् = की हुई उपासना व कर्म का	क्रतो स्मर, कृतं स्मर = भगवान् को याद दिलाने को वही अर्थ फिर से कहा गया।

तात्पर्य

प्रायः लोग यह समझते हैं कि जब शरीर मरकर यहीं भस्म हो जाता है तो फिर आगे क्या रहेगा? परन्तु यहाँ श्रुति कहती है कि जब प्राण भी नष्ट न होकर यहीं समष्टि में लीन होता है तो आत्मा का अभाव कैसे सिद्ध होगा?

यह एवं आगे के मंत्र मरते समय की प्रार्थना के हैं। अथवा प्रमाद ही मृत्यु होने से सदा स्मरण रखने के लिये हैं। जिनके लिये हमारा इतना यत्न है वे शरीर व प्राण यहीं रह जायेंगे, केवल कर्म और उपासना ही आगे साथ देंगे। प्राण या उससे द्योतित सूक्ष्म शरीर समष्टि में लीन होगा तो अमृत या मोक्ष प्राप्त होगा। सूक्ष्म शरीर या पुर्यष्टक ही दूसरे देह को प्राप्त करता है। ज्ञान-कर्म से संस्कृत उत्क्रमण यहाँ है। देह का भस्म होना ही अन्तिम संस्कार है। अन्त में ॐ का ही उच्चारण कर्तव्य है। यही तारक मंत्र है जिसे काशी में विश्वनाथ सुनाते हैं। हमारे सभी कर्मों के फलस्वरूप परमेश्वर में उसके फलदान का संकल्प बनता है। अतः उसे संकल्परूप से याद किया कि 'मैं आपका भक्त हूँ, यही समय आपकी मदद पहुँचने का है। बाल्यपन से आजतक की मेरी सभी प्रवृत्तियों का स्मरण कर उनके अनुरूप फल दें' वैदिक को दृढ विश्वास होता है कि उसका जीवनक्रम शिव की प्रीति वाला ही है अतः वह घबराता नहीं। अथवा हे संकल्परूप मन ! अपने कर्मों का स्मरण कर। हे परमात्मा !

यदि मुझ में आपका अन्तकाल में स्मरण करने की शक्ति न भी हो तो भी आप अवश्य मुझ भक्त का स्मरण कर लें। भगवान् जिनका स्मरण करेगा उनकी सद्गति में सन्देह ही क्या हो सकता है? जिसने इस सृष्टि की उन्नति में सहयोग किया है, सत्य धर्म का निरन्तर पालन किया है एवं सदा महेश्वर की भक्ति एवं उससे प्रेम किया है वही मरणक्षण में प्रसन्न रहता है।

— १८ —

पदच्छेदः

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥

सान्वयार्थः

अग्ने = हे सर्वाग्रगामी प्रकाशरूप उमेश !	विद्वान् = जानते हुए
सुपथा = सुन्दर मार्ग द्वारा	अस्मत् = हमसे
राये = सुख (कर्मफलभोग) के लिये	जुहुराणम् = (हमारे) कुटिल
नय = ले जाओ।	एनः = पापों से (पापों को)
देव = हे देवाधिदेव महेश्वर!	युयोधि = अलग करें (नष्ट करें)।
अस्मान् = हमको (अपने भक्त को)	ते = तुम्हें
विश्वानि = (एवं) सारे	भूयिष्ठाम् = बहुत बहुत
वयुनानि = कर्मों को	नमउक्तिं = 'नमः' कहने की
	विधेम = सेवा करता हूँ। (इससे ही गौरीशंकर प्रसन्न हो।)

तात्पर्य

हम कितनी भी सावधानी से बर्ताव करें कभी न कभी दोष या पाप बन ही जाता है। अतः उमेश्वर से प्रार्थना है कि हमारे समग्र कर्मों को ध्यान में रखते हुए भूल चूक माफ कर देवें। कदाचित् की हुई बातों से मनुष्य का जीवन निर्णीत नहीं किया जा सकता। इस अन्तिम काल में मैं और कुछ भी तुम्हारी सेवा करने में असमर्थ हूँ अतः मुँह से ही 'नमः नमः' अर्थात् अपना नम्रभाव प्रकट करता हूँ।

दक्षिणायन से मैं तंग आकर उत्तरायण या सुपथ की कामना करता हूँ जिससे रै = सुख अर्थात् क्रममुक्ति मुझे प्राप्त हो। कौटिल्य को ही वैदिक मार्ग सबसे बड़ा दोष मानता है, अतः उसको यहाँ स्पष्ट कह दिया। भगवद्धाम का वासी दोषनिर्मुक्त ही बनता है। 'अस्मान् नय' भी अन्वय संभव है।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् संक्षेप में वेदसार ही है।

मूलमंत्रपाठ

ॐ ईशावास्यमिद ँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।१।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ् समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।
असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ता ँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानन्ततो न विजुगुप्सते।।६।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यस्समाभ्यः ।।८।।
अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ् रताः।।९।।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः॥१२॥
अन्यदेवाहुस्सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥
सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युन्तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥१४॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥१५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि।
योसावसौ पुरुषस्सोहमस्मि ॥१६॥
वायुरनिलममृतमथेदम्भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम॥१८॥
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥